

---

## इकाई 7 अनुसंधान अभिकल्प के प्रकार

---

### इकाई की रूपरेखा

- 7.1 प्रस्तावना  
लक्ष्य और उद्देश्य
- 7.2 शोध समस्या की परिभाषा
- 7.3 नियमों की जानकारी
- 7.4 अवधारणाओं का स्पष्टीकरण
- 7.5 आँकड़ों के संकलन की विधियाँ, परिचालनीकरण, संसाधन और विश्लेषण
- 7.6 विषयों का नमूनाकरण
- 7.7 परिणामों का प्रस्तुतीकरण
- 7.8 सारांश
- 7.9 बोध प्रश्न
- 7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

---

### 7.1 प्रस्तावना

---

अनुसंधान प्रक्रिया और अनुसंधान परिचालन के रूप की दृष्टि से शोध अभिकल्पों अथवा संरचनाओं (Research Designs) का भिन्न रूप होना स्पष्ट सी बात है। अनुसंधान की पद्धतियों के पारम्परिक रूप में, शोध अभिकल्प से अभिप्रायः ऐसे प्रारूप से है जो अनुभवजन्य सिद्धान्त (Empirical Theory) की नज़र में बताया जा सकता है। इस सीमित दृष्टि से शोध अभिकल्प अनुभवजन्य शोध अभिकल्प (संरचना) ही होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम इस सीमित अर्थ से बाहर कोई अन्य तरीके से शोध अभिकल्प तैयार कर ही नहीं सकते। इसका भाव यह है कि सामाजिक अनुसंधान के विभिन्न रूपों में विभिन्न शोध अभिकल्पों अथवा प्ररचनाओं को तैयार किया जा सकता है। भले ही हम सामाजिक अनुसंधान के पारम्परिक अनुभवजन्य पद्धतियों के दायरे में शोध संरचना तैयार करते हैं, परन्तु इस प्रक्रिया में हम शोध प्ररचना की अन्य पद्धतियों तथा रूपों से अलग-अलग नहीं होते तथा इस क्रम में अन्य पद्धतियों के सुझावों को भी दृष्टिगोचर नहीं करते।

### लक्ष्य और उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- शोध समस्या की क्या परिभाषा होती है इसको समझ सकेंगे;
- अवधारणाओं का स्पष्टीकरण कैसे किया जाता है इसको जान सकेंगे;
- शोध सामग्री के संकलन (data collections) की विधियाँ और उनकी परिचालनीयकरण (operationalisation) को समझ सकेंगे; और
- अनुसंधान परिणामों को किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है इस बारे में जान सकेंगे।

## 7.2 शोध समस्या की परिभाषा

सामाजिक अनुसंधान एक विषय से जुड़े उसके व्यापक रूप से आरम्भ होता है जिसे बाद में एक व्यवहारिक रूप में बदला जाता है। विषय से सम्बन्धित सोच अथवा समक्ष सर्वप्रथम यह मान कर चलता है कि शोधार्थी का उस शोध विषय में खासी अभिरुचि है तथा उस विषय से जुड़े तथ्यों को उसका भली प्रकार से जानकारी है अथवा उस विषय पर उसके समक्ष उसे सम्बन्धित साहित्य उसने अनेक स्रोतों जैसे सेमिनारों, कार्यपालों और विचार गोष्ठियों आदि से प्राप्त की है। ऐसा कोई निर्णायक तरीका नहीं है कि हम यह जान सकें कि शोधकर्ता में उस विषय में अभिरुचि कैसे विकसित हुई है। विषय से जुड़ी ऐसी अभिरुचि शोधार्थी को उसकी आत्मकथा से प्रेरित हो सकती है अथवा उस सामाजिक वातावरण से भी प्रेरित हो सकती है जिसमें शोधकर्ता पला-बढ़ा है। शोध विषय में अभिरुचि जागृत करने के अनेकों सांसारिक तथा सांयोगिक कारक (जैसे किसी अध्यापक द्वारा उसके वाक्-कौशल से किसी तरुण के मन मस्तिष्क पर पड़ा प्रभाव हो सकता है अथवा उन लोगों से जो शोधकर्ता को समय-समय पर सलाह देते हों) कार्यरत रहते हैं। कारक यह भी हो सकता है कि माता-पिता अपनी पुत्री के विवाह पर दहेज न दे सकने के फलस्वरूप पनपी पीड़ा से प्रेरित शोध विषय में अभिरुचि पैदा कर सकती हैं। इसी प्रकार शोधकर्ता की अभिरुचि जो परिवारों में हुई ऐसी गतिविधियों के ब्योरे से भी हो सकती है। एक शोधकर्ता द्वारा किसी अमुक शोध विषय के चयन के कोई से भी कारक हों, एक विषय तभी किसी शोध विषय से जुड़ा तब माना जाता है जो इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकते हैं कि वह विषय एक सामान्य सामाजिक संदर्भ से जुड़ा हो। परिवार रूपी समाजशास्त्र के क्षेत्र का यह विषय जो पैतृक परिवार संरचना और दहेज के सम्बन्ध दर्शाए, एक अनुकूल विषय हो सकता है। इस प्रश्न पर पुनः चर्चा हो सकती है।

एक बार जब किसी स्थूल रूप से विषय को तलाश लिया जाता है, तब चुनौतीपूर्ण तथ्य यह होता है कि उस विषय को किस प्रकार शोध सार में बदला जा सके। व्यावहारिक रूप में ऐसा "बदलना" तब सम्भव होता है जब उस "व्यापक विषय" को जितना अधिकाधिक स्पष्ट हो, किसी "क्षेत्र" तक संकेन्द्रित किया जा सके और कि साथ ही उस विषय की व्यावहारिकता का मूल्यांकन सम्भव हो पाए। संकेन्द्रण जितना संकीर्ण होगा, वह विषय उतना ही तीक्ष्ण होगा तथा वह विषय उतना ही व्यवहार्य होगा। स्थूल विषय पर शोध की संभावना छितराए रूप से फैल जाने की हो जाती है तथा ऐसे शोध से किसी नवीन और उत्तेजक निष्कर्षों की अपेक्षा कम ही होती है। उदाहरणतया, एषिया में विरवलता रूप शोध कुछ ऐसे स्थूल अथवा व्यापक विषय होना जिस पर कार्य अर्थात् शोध करना जोखिम भरा कार्य होगा। परन्तु ऐसे स्थूल विषय को कुछ छोटे-छोटे शोधीय सारत्व विषयों में अंकित किया जा सकता है जैसे विपलवी नेताओं (insurgent leaders) की रूपरेखा, विपलवी संगठनों की गतिकी (dynamics), विपलवी विचारधारा, सैनिक रणनीति, विपलवी संगठनों में निर्णयन प्रक्रिया, समर्थन आधार, शान्ति वार्ताएँ, विपलवी संगठनों के अंतर-राज्य परिचालन का स्वरूप, विभिन्न विपलवी संगठनों का नेटवर्क, विपलता के संदर्भ में नागरिक समाज और मानव अधिकार संगठनों की भूमिका आदि आदि। एक शोधकर्ता ऐसे सारत्व विषयों के एक अथवा कुछ पर कार्य कर सकता है। किसी एक सीमित समय में इन सभी विषयों पर एक साथ कार्य करना असम्भव है और यदि ऐसा प्रयास कर भी लिया जाए तो ऐसे शोध का परिणाम न तो नए हो सकते हैं और न ही उपयोगी।

अनुसंधानीय सारत्व को तब एक शोधीय समस्या में परिवर्तित किया जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि हम एक सामाजिक समस्या तथा एक शोध से सम्बन्धित समस्या में भेद समझ लें। निर्धनता समाज की एक विकट समस्या हो सकती है, परन्तु इसका यह भाव नहीं होता कि शोधार्थी ऐसी समस्या पर शोध करने की रुचि दिखाएँ, विशेषतया तब तक जब तक उसमें ऐसी समस्या को एक शोधीय समस्या

बनाने में उसे जागृत न किया जाए अथवा वह ऐसी समस्या को स्वयं शोध का विषय बनाने में सक्षम नहीं हो जाता। एक समस्या तब तक शोधिय समस्या नहीं बनती जब तक वह समस्या सामाजिक विज्ञान के दायरे में आने वाले उन नियमों को नहीं मानती जब तक वह समस्या अपने समाधान में उनका पालन नहीं कर लेती तथा जब तक उस क्षेत्र में एकत्रित किए गए ज्ञान का प्रयोग नहीं हो जाता। एक समाज के समक्ष किसी समस्या का होना तथा उस समस्या के समाधान की आवश्यकता का मात्र होना काफी नहीं होता कि उस समस्या पर शोध किया जाए। थॉमस कुन्ह का मानना है कि शोध करना एक पहली को हल करना होता है : पहली कोई सरल सी समस्या नहीं होती है। यह एक ऐसी समस्या होती है जिसे हल करने के लिए कुछ प्रदत्त नियमों को मानते हुए हल करना पड़ता है। किसी रुबिक को जोड़ना इस रूप में एक पहली है कि उसे जोड़ने के लिए कुछ नियमों को स्वीकारना अर्थात् मानना पड़ता है। स्पष्ट है कि हम किसी उपकरण से घनों को निकाल नहीं सकते अथवा उन्हें अलग नहीं कर सकते जब तक हम उन घनों को उनकी सुनिश्चित दिशाओं में घुमाते हुए उनके निश्चित स्थानों तक नहीं ले आते। प्रदत्त नियमों में परिवर्तन करते हुए तथा उन्हें अपनी सुविधा अनुसार उन नियमों को बदल कर हम घनों को अवश्य जोड़ सकते हैं। परंतु ऐसा करना सुविधाजनक तो हो सकता है, यह नियमानुरूप नहीं होता।

उदाहरणार्थ, एक पत्रकार बिना अपना स्रोत बताए विप्लवता के विषय में लिख सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसे पत्रकारिता रूपी विशेषाधिकार प्राप्त हैं। वह विप्लवता से जुड़ी रोचक गाथाएँ बिना स्रोत बताए लिख सकता/सकती है। एक सफल पत्रकार का कार्य समाचार देना होता है। इसके विपरीत सामाजिक विज्ञान के एक शोधकर्ता को हर क्षण अपना स्रोत बताने के लिए उत्तरदायी होना पड़ता है। हो सकता है कि वह स्वयं निजी रूप से किसी रोचक सूचना को बताना चाहता हो, परन्तु यदि उसके पास स्रोत का अभाव है तो वह ऐसी सूचना नहीं देना चाहेगा। स्रोत-विवरणों का देना इसलिए ज़रूरी होता है कि कोई भी अन्य शोधकर्ता उन विवरणों की सहायता से दी गई सूचनाओं की पुनः जाँच कर सकता है अथवा उन विवरणों का प्रयोग कर वैसे परिणामों पर पहुँच सकता/सकती है। संभवतया विवरणों के स्रोत तथा उनकी जाँच के नियम प्राप्त निष्कर्षों को अरुचिकर बना सकते हैं, क्योंकि ऐसी सूचनाओं की पहुँच न केवल सीमित होती है, अपितु, उनका सत्यापन भी किया जा सकता है। परिणामों में नयापन/नवीनता तलाषना सामाजिक विज्ञान अनुसंधान का कोई आवश्यक गुण नहीं समझा जाता।

किसी बड़े विषय को उसके शोधिय सार में बदलना और उसके पश्चात उस शोधिय सारत्व को शोधिय समस्या में परिवर्तित करना सामाजिक विज्ञान में शोध का कीपीय प्रभाव (Funnel Effect) कहलाता है। ऐसा परिवर्तन शोध में वैसा करता है जैसे एक कीप एक बोटल के संकीर्ण मुँह में तरल पदार्थ डालने में सहायक होता है। एक तरुण शोधकर्ता को बहुत बड़ा सोचने तथा व्यापक रूप से अपनी शोध समस्या में ढालने का प्रलोभन रहता है। यह सही होगा यदि वह शोधकर्ता अपने ऐसे प्रलोभन पर काबू रखा पाए।

### 7.3 नियमों की जानकारी

जबकि सामाजिक विज्ञान के शोध की प्रक्रिया में यह आषा की जाती है कि सामाजिक विज्ञान में सभी प्रकार के शोध से सम्बन्धित नियमों का अनुसरण किया जाना आवश्यक होता है, साथ ही, यह भी मौलिक रूप से महत्वपूर्ण है कि एक शोधकर्ता अपने आपको शोध नियमों से सदैव परिचित रखे। ऐसा करना सरल नहीं है। शोध से सम्बन्धित नियमों और संलेखों का वैसा निर्धारण नहीं किया जाता जैसा देश के संविधान के अनुच्छेदों का किया जाता है। जब देश का संविधान लिखा जाता है तब उसके

देष में सर्वोच्च कानून होने के कारण उसमें किसी भी स्थिति में उसके अनुच्छेदों की अवहेलना नहीं की जाती। सामाजिक विज्ञान अनुसंधान में नियम होते हैं – स्पष्ट रूप में न होकर परन्तु अन्तर्निहित रूप में। ऐसे नियम सम्बद्ध साहित्य में पहले से ही स्थित होते हैं। क्योंकि ऐसे नियम अन्तर्निहित होते हैं, इसलिए शोधकर्ता को उन नियमों की व्याख्या करने की कौशलता होनी चाहिए। नियमों की मात्र जानकारी होना काफी नहीं होता, अपितु उन नियमों की व्याख्या तथा उन नियमों की उपस्थित साहित्य से निकालने और उन्हें अर्थ देने की कला भी आवश्यक होती है। एक शोधकर्ता को शोध विषय की जानकारी जानना आवश्यक है तथा विद्यमान सामग्री की समीक्षा जिस पर कार्य हो रहा है, भी आवश्यक होती है। नियमों की प्रवीणता किसी अच्छे शोध की गारन्टी नहीं होती। फुटबाल खेल के नियमों की जानकारी रखने वाले फुटबाल का अच्छा खिलाड़ी नहीं होता। ऐसे खिलाड़ी को फुटबाल खेलने की कला तथा उस खेल के नियमों को प्रयोग करने का कौशल भी होना चाहिए। पियररे बोरडियू का मानना है कि एक अच्छे शोधकर्ता वह नहीं है जो शोध के नियमों को जानता है, किन्तु अच्छा शोधकर्ता वह है जो उन नियमों के “सिद्धान्तीय प्रभाव” (theorization effect) से बचने की कला को जानता हो।

नियमों की जानकारी का अर्थ यह होता है कि एक शोधकर्ता मौजूदा साहित्य से व्यापक रूप से परिचित है, अपितु वह उसके पुनरीक्षण की भी जानकारी रखता है। पुनरावलोकन (Review) पहले से प्राप्त ज्ञान का संक्षेपण (summarisation) अथवा पुनरुत्पादन (reproduction) नहीं होता। इसका अर्थ होता है कि शोधकर्ता सम्बद्ध साहित्य की पद्धतियों को पहचानता है। पद्धति से अभिप्राय यह होता है कि प्रकाशित लेख रचनाओं की विधियाँ किस प्रकार शोध विषय से जुड़ी हैं। उदाहरणतया यदि किसी शोधकर्ता ने भारतीय विदेश नीति से जुड़े साहित्य का पुनरावलोकन किया है तो उसे उन सभी बड़ी-बड़ी पद्धतियों की सूची तैयार करनी होगी जिनका सम्बद्ध “राष्ट्रीय हित” (national interest), “वैश्विक एवं क्षेत्रीय शक्ति संतुलन” (global and regional balance of power), “नवउपनिवेशवाद” (neocolonialism) आदि अभिभावी संकल्पनाओं को परिभाषित करना होगा। ऐसा करना प्रायः सरल नहीं होगा क्योंकि सम्बद्ध पद्धतियाँ सम्बद्ध साहित्य यद्यपि स्पष्टता एवं परिष्कृता की मात्रा में खासी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। क्योंकि सामाजिक विज्ञान एक अशुद्ध विज्ञान है, इसलिए इससे जुड़ी पद्धतियाँ एक-दूसरे पर व्याप्त होती हैं। फिर भी इस व्याप्तता के बावजूद एक शोधकर्ता के लिए सम्बद्ध पद्धतियों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

द्वितीय, शोधकर्ता को सम्बद्ध शोध साहित्य का पुनर्विलोकन करते समय अन्तरालों को भी तलाषना पड़ता है। अन्तरालों को तलाष की प्रक्रिया दो प्रकार की हो सकती है: एक, अपनाई गई पद्धति कुछ प्रकार के परिष्कृत अनुभवजन्यीय तथ्यों को समझने, सम्मिलित करने और उन पर भविष्यवाणी करने में अपर्याप्त हो सकती है। दूसरे शब्दों में, कुछ प्रकार के आनुभवशील तथ्य ऐसे हो सकते हैं जिन्हें प्रेक्षित किया जा चुका हो अथवा जो अवलोकनीय हो सकते हों और जिनके विषय में सम्बद्ध पद्धति न तो ध्यान दे पाई हों और न ही समझ पाई हो तथा न ही भविष्यवाणी कर पाई हो। ऐसे तथ्यों को हम दुष्ट तथ्य कहते हैं क्योंकि इनमें विद्यमान अपर्याप्तता को अनुभवजन्यीय अपर्याप्तता कहा जा सकता है। इनमें पाई जाने वाली अपर्याप्तता इस तथ्य का संकेत नहीं है कि इसमें अपनाई गई पद्धति को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया जाए जब तक इनमें विद्यमान तथ्य तथा तथ्यों की वास्तविकताएँ औद्योगिकीय रूप में किसी नई पद्धति का आभास नहीं दे देती। जबकि इन दुष्ट तथ्यों में किसी नई पद्धति को उभारने की ताकत होती है, एक अथवा कोई दो तथ्य किसी नई पद्धति को अस्तित्व में नहीं ला सकते। इसके अतिरिक्त, नई पद्धति को पुरानी पद्धति पर जगह बनाने की शक्ति होती है। परन्तु सामाजिक विज्ञान में पद्धतियाँ स्पष्ट रूप से ऐसी जगह नहीं बनातीं। अरस्तू तथा प्लेटो की रचनाएँ, अतीत से सम्बन्धित होने के बावजूद भी आज भी अपनी प्रासंगिकता खो नहीं देतीं। सामाजिक दर्शन तथा राजनीतिक सिद्धान्त इन विद्वानों की रचनाएँ आज के बहस के मुद्दों में आंलकारित होती हैं।

## 7.4 अवधारणाओं का स्पष्टीकरण

किसी भी विशेष शोध कार्य में प्रयोग की जाने वाली अवधारणाओं की सूची बनाना आवश्यक होता है। प्रत्येक प्रकार की अवधारणा का विशेष प्रकार के संदर्भ में परिभाषित करना आवश्यक बन जाता है। संदर्भ से बाहर, अवधारणा अपना अर्थ खो बैठती है अथवा शोध के संदर्भ के बिना अवधारणा का अर्थ अप्रासंगिक हो जाता है जिस अर्थ में प्रयोग होते हैं अथवा प्रयोग होने की उनकी संभावना होती है, अवधारणाओं को उसी रूप में उनकी स्पष्टतया परिभाषा की जानी चाहिए। शोध कार्य के आरंभ में ही उन अवधारणाओं को उनके शुद्ध अर्थों में उनको स्पष्ट किया जाना चाहिए। शक्ति की अवधारणा का अर्थ उस रूप में नहीं लिया जाता जब हम ऐसे कथन कहते हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका इस संसार में सबसे बड़ा "षक्तिषाली" राष्ट्र है अथवा जब हम चिपको आन्दोलन के प्रकाश में यह कहते हैं कि महिलाओं ने कुमाऊ पहाड़ियों में पेड़ों को आलिंगनबद्ध कर उन्हें ठेकेदारों द्वारा अधाधुंध काट दिए जाने से रुकवा दिया था क्योंकि वह वनों को बनाए रखने और कि उनका स्वयं के अस्तित्व "सषक्त" रूप दिया था। पहले उदाहरण में "षक्ति" शब्द का प्रयोग भौतिक रूप से अर्थात् सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, कूटनीतिक रूप आदि के रूप में किया गया था। परंतु दूसरे उदाहरण में, "षक्ति" शब्द भौतिक शक्ति के समक्ष "नैतिक" शक्ति रूप में किया गया था। सामाजिक विज्ञान अनुसंधान के क्षेत्र में समस्या यह होती है कि शब्द अवधारणा अनेकों अर्थों में समझी जाती है और कि जब तक कोई शोधकर्ता आरंभ में अपनी अवधारणा स्पष्ट नहीं करता, तो इस तथ्य का खतरा बढ़ जाता है कि उसे दूसरे किसी अन्य अर्थ में समझ ले तथा उस प्रक्रिया में संभ्रतता और अधिक विकट का रूप और गहरा हो जाए।

इसके अतिरिक्त, शोधकर्ता के लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि वह प्रयोग की गई अवधारणाओं में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करे। याद रहें, अवधारणाएँ वियोजन में नहीं पनपती/होती, और एक शोधकर्ता को उन अवधारणाओं में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाने का यत्न करता है और यह स्थापित अवधारणाओं को नए एकत्रित तथ्यों के प्रकाश में उन की पुनःसमीक्षा करता है। प्रत्येक अवधारणा तैयार की गई अवधारणाओं की सूची का कोई अंश होती है जिस सूची को शोधकर्ता काम में लेता है। अतः निर्धनता, भूख, भूखमरी कुछ ऐसी परस्पर अवधारणाएँ हैं जो प्रायः समान अर्थों में प्रयोग होती हैं और उनमें सूक्ष्म भेद अक्सर भूला दिया जाता है।

अवधारणाओं का स्पष्टीकरण, एक बड़ी सीमा तक इस तथ्य पर निर्भर करता है कि हम उन्हें किस प्रकार आँक सकने की योग्यता रखते हैं। साधारण शब्दों में, अवधारणाओं के आँकने/मूल्यांकन करने का उचित तरीका अपनाया जाना चाहिए तथा तलाषना चाहिए। आँकने/मूल्यांकन से जुड़े सामान्य प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए ताकि यह स्पष्ट हो जाए कि अवधारणाओं को आँकने और मूल्यांकन करने से सम्बन्धित सभी संभावित समस्याओं पर सोच-विचार किया जा चुका है। थरेसे बेकर के शब्दों में, "आँकने अथवा मूल्यांकन में प्रायः दो विवेचनीय मुद्दे सम्मिलित होते हैं: (i) मान्यता : क्या मूल्यांकन के फलस्वरूप उत्पन्न निष्कर्ष अवधारणा का सही प्रतिनिधित्व करता है; (ii) विष्वसनीयता: क्या मूल्यांकन से यह संकेत मिलता है कि अवधारणा से प्राप्त परिणाम भविष्य में भी तर्कसंगत रह सकते हैं?"

जिस प्रकार भौतिक विज्ञानों की अवधारणाओं को परिमेयी किया जाता है, उसी प्रकार सामाजिक विज्ञानों की अवधारणाओं का मापन अपेक्षाकृत कठिन होता है। फिर भी, बेकर का अनुकरण करते हुए मापन के दो मुख्य मानकों की पहचान संभव है: मान्यता तथा विष्वसनीयता। अपनी सुविधा के अनुरूप हम पहले वाले उदाहरण को ही पुनः लेना चाहते हैं। भले ही निर्धनता युगों पुरानी समस्या रही है, परंतु सामाजिक विज्ञान निर्धनता की समस्या से सन् 1960 के दशक के अंतिम वर्षों से अपेक्षाकृत अधिक

सजग हुआ है। आरंभ में निर्धनता को कम अथवा आय के न होने की स्थिति से समझा जाता रहा था। दूसरे शब्दों में आय को निर्धनता का सूचक समझा जाता है। ऐसा सोचने में हमारे सामने समस्या तब पनपती है जब हम भूखमरी के विरुद्ध तथा भूखमरी के कारण हुई मृत्यु को निर्धनता की आयति को आँकने का प्रयास करते हैं। इसके विचार के पीछे तर्काधार यह है कि जिनकी आय कम अथवा नहीं होती उनकी खरीद-शक्ति कम अथवा न होने के समान होती हैं और कि वह अपने खाने-पीने की वस्तुओं को खरीद नहीं पाते और अपनी भूखमरी का प्रतिकरण/निदान नहीं कर पाते। भारत के संदर्भ में ऐसा तर्क नहीं दिया जा सकता। भारत में जिन लोगों की कम अथवा आय नहीं होती, वह आवश्यक नहीं कि वह सदैव भूखमरी का शिकार होते रहे हों। कम आय वाले लोगों की संख्या भूख से मौत का शिकार होते हों, यह मानते हुए भी कि इस प्रकार से जुड़े सभी आँकड़े सही रूप से सूचित एवं रिपोर्ट किए जाते हों। ऐसे विरोधाभास की व्याख्या करने का एक पहलू यह है कि निर्धनता और भूखमरी के अनेकों सामाजिक कारक होते हैं जो भूखमरी और निर्धनता के रैखिक सम्बन्धों में विकार पैदा करते हैं। कम आय और आय न रखने वाले अधिकांश लोग सामान्य तथा जन सम्पत्ति स्रोतों पर निर्भर करते हैं और उस कारण जिन्दा रहते हैं। प्रायः आदिवासी लोगों की वनीय और वनीय स्रोतों की पहुँच होती है। इसके अतिरिक्त, कम आय और आय न रखने वाले लोग दूसरे लोगों द्वारा दिए गए दान आदि पर निर्भर होते हैं एवं भूख से अथवा भूख के कारण मरते नहीं हैं। ऐसी स्थिति में हम निर्धनता को कैसे समझ सकते हैं तथा उसका मापन कैसे कर सकते हैं? यह मानते हुए कि आय का निर्धनता का परस्पर कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सुझाव दिया जा सकता है कि निर्धनता का पोषण आहार तथा कैलोरी प्राप्ति से किसी स्तर का सम्बन्ध होता है। यह और बात है कि पोषण आहार और कैलोरी प्राप्ति का स्तर भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होता है। शीत क्षेत्रों में कैलोरी प्राप्ति की मात्रा गर्म क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक होती है। ऐसी भिन्नताओं के स्तरों को कम और अधिक रूप से स्पष्ट करना संभव है।

बेकर द्वारा अंकित किया गया मापन का दूसरा मानक विष्वसनीयता है। एक उदाहरण द्वारा हमें उसे इस प्रकार बता सकते हैं। लगभग एक दशक पूर्व भारतीय संघ के कुछ राज्यों ने जिस रफ्तार द्वारा अपने जिलों को एक दूसरे के पश्चात पूर्ण रूप से साक्षर घोषित किए जाने की जो जल्दबाजी की थी उस पर विश्वास करना कठिन लगने लगा था। यह ठीक है कि पूर्ण साक्षरता के अभियान के महत्व को अतिरंजित नहीं किया जा सकता, परंतु (जैसा कि बाद के अनुसंधानों से ज्ञात होता है) साक्षरता की घोषणाओं की तीव्र गति जमीनी वास्तविकता से कहीं अधिक दूर थी। पता लगा कि ऐसे जिलों से बहुत लोग जो पूर्ण रूप से साक्षर बताए गए उनमें अनेक लोग ऐसे भी थे जिनको पूरी वर्णमाला का भी ज्ञान नहीं था तथा वह अपने हस्ताक्षर भी मुश्किल से कर पाते थे – उन्हें तो केवल अपने हस्ताक्षर करना ही सिखाया गया था। यह भी महसूस किया गया था कि साक्षरता अभियान की अनुपस्थिति में, बाद में तो वह लोग सब कुछ भूल गए जो उन्हें ऐसे अभियानों में सिखाया गया था। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि पूर्ण साक्षरता पोषणकारी पूर्ण साक्षरता की गारन्टी नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पूर्ण साक्षरता अभियान जितना प्रभावात्मक नज़र आता था, उतना विष्वसनीय नहीं था। बाद के अनुसंधानीय सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो गया कि ऐसे अभियान पोषणकारी सिद्ध नहीं हुए थे।

---

## 7.5 आँकड़ों के संकलन की विधियाँ, परिचालनीकरण, संसाधन और विश्लेषण

---

सामाजिक विज्ञानों में सामग्री संकलन की प्रारंभिक तीन विधियों द्वारा कुछ अध्ययन किए जाते रहे हैं: प्रज्ञावली अथवा साक्षात्कार पर आधारित सर्वेक्षण विधि, प्राकृतिक अथवा प्रयोगशाला वातावरण में परीक्षण विधि, तथा विभिन्न प्रकार के अवलोकन पद्धतियों के प्रयोगों के प्रकाश में क्षेत्रीय विधि।

उपर्युक्त विधियों को मोटे रूप से बताते हुए इन पर विचार करने के पूर्व दो प्रकार की चेतावनियों पर कम से कम बात करनी आवश्यक बनती है: एक, किसी एक विधि को किसी दूसरी विधि से अधिक विशेष समझने का कोई तरीका नहीं है। प्रत्येक विधि का अपने अपने क्षेत्र में अपना-अपना विशेष महत्व है क्योंकि एक शोधकर्ता को वह विधि उसके अध्ययन तथा उस पर काम करने के लिए संगतपूर्ण होती है। ऐसा आवश्यक होता है कि सामग्री के संकलन में आने वाली कठिनाई को दूर करना तथा सामग्री के संकलन की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। अनेक बार ऐसा होता है कि शोध प्रक्रिया को बीच में छोड़ने की कठिनाइयाँ पनपती हैं। यही कारण है कि पूर्व परीक्षण कितना बहुमूल्य समझा जाता है, क्योंकि ऐसे परीक्षणों के माध्यम से हमें अनेकों सशक्त समस्याओं की जानकारी मिलती है तथा जिन समस्याओं के निदान में हम कुछ कर गुजरते हैं। इन्हीं के फलस्वरूप भविष्य में हम अपने अध्ययन में आने वाले बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान कर पाते हैं।

दूसरी चेतावनी यह है कि उपर्युक्त विधियाँ अपने आपमें अनन्य नहीं है और कि हम किसी/किन्हीं दूसरी विधियों को अपने शोध अध्ययन में स्थान ही नहीं दे सकते। वास्तविकता यह है कि अपेक्षाकृत सभी विधियाँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं और कि इन सभी विधियों को एक साथ प्रयोग करना संभव होता है। शोध की गुणवत्ता अपेक्षाकृत बढ़ जाती है यदि हम सामग्री के संकलन में अनेकों विधियों का अनुसरण करते हैं।

सम्बद्ध व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों से साक्षात्कार से सामग्री एवं आँकड़ों के संकलन के लिए सर्वेक्षण एक विधि है। लोगों/समूहों से साक्षात्कार के अनेक तरीके होते हैं। प्रायः हम संरचनाबद्ध और असंरचनाबद्ध साक्षात्कारों में भेद करते हैं। हम लिखित प्रश्नावली द्वारा भी साक्षात्कार कर सकते हैं यह संरचनाबद्ध रूप का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार असंरचनाबद्ध भी हो सकते हैं, अथवा जैसा कि प्रायः होता है कि साक्षात्कार संरचनाबद्ध और असंरचनाबद्ध साक्षात्कारों का मिला-जुला एक रूप होता है। यद्यपि, साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति के पास लिखित प्रश्नावली होती है, परंतु जैसे जैसे साक्षात्कार का क्रम चलता/बढ़ता जाता है, साक्षात्कार लेने वाला अपने प्रश्नों में थोड़ा-बहुत सुधार करता रहता है। वस्तुतः साक्षात्कार के क्रम को बनाना एक कौशल क्रिया का काम होता है और कि एक शोधकर्ता के लिए व्यवहार के रूप में तनी रस्सी से कम नहीं होता। यद्यपि, शोधकर्ता की पैनी नज़र उसकी अपने शोध समस्या पर रहती है और कि वह अपने साक्षात्कार के क्रम को अपने अनुरूप संगठित करता/करती है, फिर भी वह साक्षात्कार देने वाले के मनःस्थिति को ध्यान में रखती/रखता है। साक्षात्कार देने वाले को भी साक्षात्कार के अंत में आत्म-संतुष्टि की अनुभूति होनी चाहिए। वस्तुतः साक्षात्कार देने वाले को साक्षात्कार से कोई लाभ नहीं होता बसते उसे स्वयं साक्षात्कार में कोई रुचि न हो। परिणाम यह होता है कि साक्षात्कार देने वाला साक्षात्कार लेने वाले को शोध समस्या से जुड़े तथ्यों को ईमानदारी से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। परंतु साक्षात्कार लेने वाले को साक्षात्कार देने वाले के तथ्यों को बड़े ध्यान से सुनना है तथा यह जाँच करनी होती है कि शोध समस्या के जुड़े सार्थक तथ्य साक्षात्कार के दौरान क्यों प्रस्तुत/बाहर नहीं निकाले जा सके। संभव है कि इस प्रक्रिया में शोध समस्या को पुनः सूत्रबद्ध करने की भी आवश्यकता हो ताकि शोध उद्देश्यों पर पुनः ध्यान दिया जा सके। किसी भी सामाजिक अनुसंधान में एवं विश्लेषण पूर्वपेक्षण होती है।

सर्वेक्षण शोध के संलेख सार्वजनिक होते हैं – ऐसा कुछ मान लेना प्रायः गलत बयानी होता है। अनुसंधान पद्धति (जैसा कि, परिणाम में विकसित हुई है) के संलेखों को मानना शोधकार के दायित्वों में लिया जाता है और यह माना जाता है कि साक्षात्कार लेने वाले को ऐसे नियमों का अनुसरण करना चाहिए। पश्चिमी विश्वविद्यालयों में अनेकों पदाधिकारियों को नियुक्त कर सर्वेक्षण शोध के संलेखों में पारदर्शिता रखे जाने का प्रयास किया जाता है। यदि सर्वेक्षण शोध के संलेखों का अनुसरण नहीं किया

जाता तथा उनकी पारदर्शिता को सुनिश्चित नहीं किया जाता तो कड़े दण्ड प्रयोजन की व्यवस्था है। साक्षात्कार देने वाला, इस तर्क अनुसार, साक्षात्कार देने के लिए बाध्य नहीं है यदि वह महसूस करता है कि सर्वेक्षण शोध के संलेखों का अनुसरण नहीं किया गया हो। यदि यह प्रतिबिम्ब का एक छोर है तो, दूसरी ओर, दूसरा छोर ऐसे उदाहरणों में देखा जा सकता है जबकि कुछ कपटी शोधार्थी लोगों की निरक्षरता तथा गरीबी का लाभ उठाते हुए झूठे वायदे करके उनसे सूचनाएँ एकत्रित करते हैं। भारतीय संदर्भ में साक्षात्कार लेने और साक्षात्कार देने वालों का सम्बन्ध साक्षात्कार तक सीमित नहीं रहता – यह सम्बन्ध और भी गहन होता है जो सामाजिक रूप धारण कर लेता है – साक्षात्कार से बहुत पहले तथा उसके बहुत बाद भी।

प्रयोगात्मक विधि प्रयोगशाला में किए गए परीक्षणों से मिलती-जुलती है। एक प्रयोगशाला में अनुकूल परिस्थितियाँ होने के कारण पात्रों पर नियंत्रण संभव हो पाता है जो अन्यथा संभावित एवं स्वतंत्र परिवर्तित रूप के होते हैं। इस रूप में प्रयोगात्मक पद्धति सामाजिक विज्ञान में सीमित रूप से प्रयोग में लाई जा सकती है। इसका मूल कारण यह है कि सामाजिक विज्ञानों में जीव प्राणियों को प्रयोगशाला की परिस्थितियों में नहीं लाया जा सकता। मानवीय समाज किसी प्रयोगशाला की भाँति नहीं होता जहाँ लोगों को किन्हीं पात्रों की भाँति नियंत्रित किया जा सके तथा उन्हें वांछित परिस्थितियों में ढाला जा सके। हम जीव प्राणियों की सामाजिक प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार की हैं कि हम प्रयोगात्मक पद्धति में नहीं ढाले जा सकते। फिर भी सामाजिक विज्ञान के कुछेक क्षेत्रों जैसे मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक विधि ने खासी प्रगति की है। एक उदाहरण से हम इस तथ्य को स्पष्ट कर सकते हैं। एक ऐसा व्यक्ति जिसे सामाजिक परिवेश से दूर रखा जाता है और उसे बाहरी दुनिया से अलग-थलग रखते हुए (सिवाय उस जिन्दा रहने के लिए खाद्य सामग्री दी जाती है) उसे किसी बन्द कमरे में रखा जाए तो कुछ समय या महीने बीतने के बाद ऐसा व्यक्ति सूर्य के प्रकाश के अभाव में उसमें समय का संवेदन नहीं रहता। यह प्रयोगात्मक पद्धति के प्रयोग का फल है कि सामाजिक परिवेश से दूर रहकर ऐसे परिवर्तनों का अहसास कर सकते हैं। मनोविज्ञान में ऐसे परीक्षण कुछ कम नहीं हैं।

क्षेत्रीय विधि किसी क्षेत्र पर जाने तथा वहाँ प्रेक्षण के फलस्वरूप ही कल्पित की जाती है। ईवान्स प्रीयार्ड, रेडक्लीफ ब्राउन अथवा मैलिनोवस्की जैसे शुरु के मानवशास्त्रियों ने एषिया, ऑस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के जनजाति समाजों के भीतर जाकर उनके विषय में जितना अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता था, प्राप्त करने पर जोर दिया था। आज के अनेक मानवशास्त्री आज भी ऐसी परम्परा बनाए हुए हैं, जो क्षेत्रीय विधि के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी परिप्रेक्ष्य देखे गए हैं। एक ओर सामाजिक विज्ञानिकों के एक वर्ग का यह तर्क है कि ऐसे समाजों में जाकर एवं उन के तौर-तरीकों में सहभागी बन कर ही उनके बारे में जाना जा सकता है। ऐसी विधि को "सहभागिता अवलोकन" कहा जाता है। इस परिप्रेक्ष्य की मान्यता है कि जब तक हम ऐसे समाजों के सम्बन्ध की संरचनाओं, रीति-रिवाजों और सामाजिक सम्बन्धों आदि की जानकारी तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक हम स्वयं उनका भाग नहीं बनते। दूसरी ओर ड्युमाण्ट जैसे विद्वानों का मत है कि ऐसे समाजों में जाकर उन समाजों के लोगों का अनुभव करना कोई सरल नहीं होता। मात्र उन लोगों के निकट जाकर हम ऐसे समाजों के विशेष लक्षणों को अन्यो के लक्षणों से अलग होने के तथ्यों की चर्चा नहीं कर सकते। ड्युमाण्ट का कहना है कि पश्चिमी मानवशास्त्री ऐसे जनजाति समाजों (जैसे कि भारत में हैं) की यात्राएँ क्यों करते हैं यदि वह ऐसे समाजों के विशेष लक्षणों की जानकारी प्राप्त करने में सक्षम नहीं होते? ड्युमाण्ट तथा उनके अनेक साथियों ने भारतीय समाज के ऐसे जनजाति वर्गों के मूल में पाई जाती है। ड्युमाण्ट के विचारों ने भारतीय समाज में एक भावावेषी बहस को आरंभ कर दिया है। भारतीय समाजशास्त्र में यह भीतरी/बाहरी बहस मान कर चल रही है जिसे शैक्षणिक पत्रिका, *कंट्रीव्युषन्स टू इंडियन*



सोषोओलॉजी के पन्नों में देखा जा सकता है। इस पत्रिका की स्थापना, 1959 में, लुई ड्युमाण्ट ने पेरिस में की थी।

एक बार जब तथ्यों/ऑकड़ों/सामग्री का संकलन कर लिया जाता है तो उसके बाद उनका संसाधन किया जाता है और तत्पश्चात् उन्हें ऐसे रूप में ढाला जाता है कि उनका विश्लेषण संभव हो सके। यदि ऐसे तथ्य/ऑकड़े परिमाणित रूप के होते हैं जैसा कि उनके सर्वेक्षणत्मक तथा प्रयोगात्मक विधियों के कारण ऐसा होने की अधिक संभावना होती है, हम उन्हें कम्प्यूटर द्वारा उनसे परिणामों का प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि ऐसे तथ्य/ऑकड़े/सामग्री क्षेत्रीय विवरण होते हैं तो उनको व्यवस्थित, वर्गीकृत एवं श्रेणीकृत किया जाता है। संशोधित किए जाने के बाद, तथ्यों/ऑकड़ों/सामग्री के विश्लेषण हेतु अपने शोध अध्ययन की संरचना ध्यानपूर्वक तैयार करनी होती है। यह भी सत्य है कि तथ्यों/ऑकड़ों/सामग्री के संकलन के बाद, हमारे अध्ययन की योजना में कुछ परिवर्तन भी हो सकते हैं अथवा होते हैं। अतः बेहतर यह होगा कि हम अपने शोध अध्ययन की रणनीति कुछ इस प्रकार तैयार करें कि आवश्यकता अनुसार इसमें परिवर्तन हो सके, न कि ऐसी स्थिति बन जाए कि हम अपने तथ्यों/ऑकड़ों को ढेर सारे मलबे के रूप में छोड़ दें। विश्लेषण से सम्बन्धित अनेक उपकरण (द्विचर तथा बहुचर विश्लेषण आदि) है जिनके माध्यम से मात्रिक तथ्यों/ऑकड़ों/सामग्री का अध्ययन किया जाता है। अनुसंधान पद्धतियों में हुए हाल की अध्ययन के फलस्वरूप उन तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है जो सर्वेक्षण तथ्यों/ऑकड़ों/सामग्री को प्रतिवादियों से उनके चुप रहने तथा न बताने के कारण बाहर नहीं निकलवाया जा सका। वास्तव में, चुप रहने का भी अपना अर्थ होता है। जहाँ तक क्षेत्रीय तथ्यों/ऑकड़ों/सामग्री का प्रश्न है, अनेकों ऐसी नवीन रणनीतियाँ हैं जिनके माध्यम से अध्ययन भी किया जा सकता है तथा उनसे मतलब भी निकाले जा सकते हैं।

## 7.6 विषयों का नमूनाकरण

तथ्य/ऑकड़े/सामग्री जो संकलित की जाती हैं, वह दो प्रकार की होती हैं: संगणना अर्थात् जनगणना द्वारा तथा निदर्शन द्वारा। जैसा कि सरकार द्वारा संगणना कराई जाती है, उस प्रयोजन में प्रत्येक व्यक्ति सम्मिलित होता है तथा इस प्रकार के अध्ययन कार्य में किसी भी व्यक्ति को छोड़ा नहीं जाता। भारत में संगणना/जनगणना प्रति दस वर्ष पर की जाती है। सैद्धान्तिक रूप से संगणना में सभी सम्मिलित होती हैं और कि इस प्रकार के प्रयोजन में समस्त जनता की जनसांख्यिकी रचना, आय, अन्तरीयता राज्यों में आने वालों और जाने वाले लोगों की सुस्पष्ट जनसंख्या तथा अन्य अनेक तथ्यों आदि को संगणना में सम्मिलित किया जाना संभव होता है। परंतु किसी एक शोधार्थी के लिए ऐसे सभी तथ्यों की गिनती में सीमाएँ होती हैं। एक व्यक्ति बीस परिवारों अथवा यहाँ तक कि 500 परिवारों के अध्ययन का प्रयास कर सकता है परंतु वह भारत के दूरदराज के जिलों और नगर के परिवारों के ऐसे सभी तथ्यों/ऑकड़ों आदि को एकत्रित नहीं कर सकता। एक शोधार्थी अपने शोध कार्य में अपने प्रतिचयन को इस प्रकार करना पड़ता है कि उनके द्वारा उसके प्राप्त परिणाम उतने सम्भव हो कि सही प्रतीत हों।

चयन प्रक्रिया किस पर की जाए अथवा किन पर की जाए आदि नमूनाकरण के रूप से सम्बन्धित अनेक कारकों पर निर्भर करती है। निदर्शन योजनाएँ जटिल एवं सरल/सीधी हो सकती हैं और कि एक शोधकार अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने निदर्शनों का चयन कर सकता है। हम ऐसे निदर्शनों के रूप को **असंभाव्यता प्रतिचयन** (non-probability sample) कहते हैं। उदाहरण के रूप में, एक थाने में एक दिन जाकर वहाँ रिपोर्ट किए जाने वाले सभी विवादों का विवरण लिया सकता है। ऐसा करना संभाव्यता (probability) प्रतिचयन नहीं है क्योंकि संभाव्यता उस विशेष दिन थाने के पहले के

सभी अपराधीय विवरण रिकार्ड किए गए विवरणों से मेल न खाते हों। स्पष्ट है कि उस विशेष दिन के विवरण के आधार पर प्राप्त परिणाम उस थाना क्षेत्र के पहले के प्राप्त अपराधीय विवरण के परिणाम से अलग होंगे। कुछ अध्ययनों के लिए ऐसे परिणाम जो असंभाव्यता प्रतिचयन रूप के होते हैं, पर्याप्त हों तथा किन्हीं अन्यो के लिए सर्वोत्तम हों जिन्हें प्राप्त किया जा सकता है। किसी के लिए निदर्शन का प्रारूप कैसा भी हो, इसका उसके अध्ययन के लिए विस्तार में समझा जाना आवश्यक है। यह इतना सुनिश्चित हो कि किसी अन्य के लिए उस जैसी प्रक्रियाओं द्वारा वैसा निदर्शन बनाना संभव हो सके।

दूसरी ओर एक संभाव्यता निदर्शन द्वारा जनसंख्या समूह के लिए जिसका अध्ययन किया जा रहा है, उससे जुड़े संगितपूर्ण विशेषताओं के वितरण के प्रतिनिधित्व की अपेक्षा सम्भव होती है। उदाहरण के लिए किसी चुनावी सर्वेक्षण का कोई महत्व/अर्थ नहीं होता यदि जिनके मत का सर्वेक्षण किया जा रहा है, वह उनकी आयु, लिंग, अथवा जाति अन्तरीयता, वर्गों के संदर्भ में भिन्नताएँ, शिक्षा, आय, आदि का प्रतिनिधित्व करता है। यदि उस निर्वाचन क्षेत्र में जहाँ अपेक्षाकृत हिन्दू रहते हों, परन्तु उस में अल्पसंख्यकों का प्रभुत्व हो, उस मत सर्वेक्षण का कोई अथवा नगण्य महत्व होता है। निदर्शन प्राप्त नमूना ऐसा होना चाहिए जिससे संभाव्यता परिणाम अधिकाधिक हो, बर्ते वह सम्बन्ध वितरित रूप के कारकों से अनुरूप हों।

---

## 7.7 परिणामों का प्रस्तुतीकरण

---

अनुसंधान तथ्यों/आँकड़ों/सामग्री के संकलन से बहुत अधिक होता है। शोध अध्ययन में भले ही सभी प्रकार के तथ्यों/आँकड़ों को संकलित किया जाए, परन्तु अनुसंधान कार्य तब तक अधूरा होता है जब तक कि उसके परिणामों को तैयार नहीं किया जाता। बहुत सी शोध परियोजनाएँ लेख, पुस्तकों, अध्यायों, रिपोर्टों का आधार बन जाती हैं। एक अनुसंधान कार्य इस प्रकार होना चाहिए कि उससे प्राप्त परिणाम सूचनात्मक हो तथा सामाजिक विज्ञान के लिए व्यापक रूप से लाभकारी हों।

अतः किसी भी शोध कार्य का उद्देश्य एवं उपयोगिता की दृष्टि से समझा जाना चाहिए। किसी योजना को निर्मित करके तथा जो प्रायः युक्तियुक्त एवं उपयुक्त दिखाई दें, उससे यह तो लगता है कि इसका उद्देश्य प्राप्त हो जाएगा, परन्तु एक सामाजिक शोध ऐसे उद्देश्यों के साथ-साथ अनेक अन्य रोचक परिणामों की जानकारी देता है अथवा दे सकने की सक्षमता भी रखता है। पड़ोसी देशों ने जलवायु परिवर्तन तथा भूमण्डलीय तापन के कारण तटीय स्तर में बढ़ोतरी के कारण तथा उनके फलस्वरूप उपज की हानि के कारणों से आप्रवासन होता है तो ऐसे अनुसंधान से यह स्पष्ट होता है कि संसाधनों में कमी के कारण लोग उन देशों को छोड़ रहे हैं। इस प्रकार के किए जा रहे शोध का सम्बन्ध आप्रवासन के संकट से था परन्तु इस शोध ने अन्य अनेक भूमण्डलीय विक्तीय परिस्थितियों से भी हमारा परिचय करा दिया। शोध का लक्ष्य किन्हीं उद्देश्यों की कामना होता है। उसकी उपयोगिता मात्र इस तथ्य में होती है कि उससे कुछ वांछनीय प्राप्त हुआ है, साथ ही, इस तथ्य में भी होता है कि इस शोध कार्य ने अनुसंधान के क्षेत्र में कुछ जोड़ा है तथा अन्य अनेक चुनौतियों को जन्मा है।

---

## 7.8 सारांश

---

एक अच्छा शोध कार्य एक अच्छी शोध संरचना पर निर्भर और निर्धारित होता है, परन्तु किसी अच्छी संरचना के निर्धारण के लिए कोई परिपूर्ण नियम नहीं है। प्रायः यह माना जाता रहा है कि एक शोध संरचना अनुभवजन्य सिद्धान्तीय परम्परा से ओत प्रोत होती है। हमारा उपर्युक्त विवरण इस

अवधारणा को दूर करने का प्रयास करता है। हमने शोध कार्य में अनुभवजन्य परम्परा के साथ साथ उससे बाहर की सभी विधियों द्वारा शोध संभावनाओं द्वारा शोध किए जाने की चर्चा की है। किसी भी विशेष विधि को मानना परस्पर अनन्य नहीं है।

---

## 7.9 बोध प्रश्न

---

- 1) शोध समस्या की परिभाषा दीजिए और समझाइए कि किस प्रकार सम्बद्ध साहित्य शोध समस्या के निर्धारण में सहायक होता है?
- 2) सामाजिक विज्ञान अनुसंधान में तथ्य/आँकड़े संकलन की विधियों का विवेचन कीजिए। क्या ऐसी सभी विधियाँ परस्पर अनन्य हैं? अपने उत्तर में कारण दीजिए।
- 3) नमूनाकरण की परिभाषा दीजिए और संगणना से उसके भेद बताइए।
- 4) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
  - क) असंभाव्यता नमूनाकरण
  - ख) पहली-समाधान अभ्यास
  - ग) सामाजिक शोध की उपयोगिता

---

## 7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

---

कार्ल पोपर, *कन्जैकचरज़ एंड रेफ़ूटेशनस: दि ग्रोथ ऑफ़ साइंटिफ़िक नालेज*, राउटलैज एंड केगन पाल, लंदन, 1963

थॉमस एस. कुहन, *दि स्ट्रक्चर ऑफ़ साइंटिफ़िक रेवुल्युषन्स*, यूनिवर्सिटी ऑफ़ षिकागो प्रेस, षिकागो, षिकागो, 1962

थेरेसे एल. बेकर, *डोईंग सोशल रिसर्च*, मैकग्रा-हिल, न्यू यॉर्क, 1994

पिररे बोरडियो, *दि लॉजिक ऑफ़ प्रैक्टिस*, अनुवादित रिचर्ड नाइस, पॉलिटी, कैम्ब्रिज।